P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-III, ISSUE-III, February-2015
E: ISSN No. 2349-9435
Periodic Research

गाँधी का सामाजिक चिंतन

विवेकानन्द तिवारी
गांधीवादी चिंतक एवं स्वतंत्र लेखक,

घनश्याम दूबे
सहायक प्राध्यापक,
इतिहास विभाग,
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय,
छत्तीसगढ़

सारांश

गाँधी जी की तरह अपने जीवनकाल में निखिल मानवता के मन प्राण को इतना अधिक स्पंदित और आन्दोलित करने वाला दूसरा कोई नहीं हुआ। आइंस्टीन ने 1944 में कहा–''भावी पीढ़ियों को विश्वास ही नहीं होगा कि इस धरती पर हाड़–मांस का कोई गांधी कभी जन्मा भी था।

मुख्य शब्दः गाँधी जी, सामाजिक चिंतन

प्रस्तावना

गाँधी तकनीक अर्थ में दार्शनिक नहीं थे और न ही वे दर्शन के छात्र थे। परन्तु उनका अनुभव काफी लम्बा था। इंग्लैंड में उन्होने 7–8 वर्ष बिताए थे। वहाँ की जीवन–पद्धति, सभ्यता और संस्कृति को उन्होंने निकट से देखा था। दक्षिण अफ्रिका में उन्होंने मानव–मानव के बीच भेद को स्पष्ट आँखों से देखा और भोगा था। एक ही देश के दो नागरिकों को कानून में समान दर्जा प्राप्त होने के उपरान्त भी व्यवहार में भेद–भाव को उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया था। साथ ही साथ उन्होंने दक्षिण अफ्रिका में टॉल्सटाय एवं रस्किन के विचारों का भी गहन अध्ययन किया था। टॉल्सटाय द्वारा प्रतिपादित यह विचार कि ''प्रत्येक मनुष्य को अपने दैनिक भोजन के लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए'' ने गाँधी को बहुत प्रभावित किया था। पुनः अहिंसा की प्रथम शिक्षा भी गाँधी जी को टॉल्सटाय से ही प्राप्त हुई थी जिससे प्रभावित होकर उन्होंने दक्षिण अफ्रिका में ''टॉल्सटाय आश्रम'' की स्थापना की। अहिंसा के साथ ही साथ उनके त्याग और अस्वामित्व जैसे विचारों ने भी गाँधी को प्रभावित किया था। संभवतः इन्हीं विचारों से प्रभावित हो कर गाँधी सामाजिक विकास की ओर उन्मुख हुए और उन्होंने हिन्दुओं में अस्पृश्यता निवारण के लिए प्रयास किया'।[1] रस्किन द्वारा प्रतिपादित धनलोलुपता से दूर रहने संबंधी विचार और रचनात्मक श्रम का उनके ऊपर यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। रस्किन का विचार था कि श्रम मधू का उत्पादन करता है न कि मकड़े का जाल बुनता है।[2]

इसके अलावे बाइबिल और गीता का भी उनके ऊपर यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। साथ ही साथ उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि भी अत्यधिक धार्मिक थी। परिणामस्वरूप धार्मिक और नैतिक सद्गुण की बहुत सारी बातें बचपन से ही ज्ञात थीं। अपने बचपन के विषय में गाँधी बतलाते हैं, ''एक बात मेरे अन्दर जड़ समाए हुए है –यह तथ्य कि नैतिकता ही सारी चीजों का आधार है'' और सत्य सारी नैतिकता का आधार है। इसका महत्त्व प्रत्येक दिन बढ़ता जा रहा है और इसकी परिभाषा दिनानुदिन व्यापक होती जा रही है।[3] उनका बचपन इस तरह बीता था कि उनकी अन्तरात्मा अद्वितीय रूप से विकसित हुई थी कि मानव स्वभाव के अनिवार्य शुभत्व का ज्ञान उन्हें विरासत में प्राप्त हुआ था।[4] भारत आगमन के बाद उन्हें यहाँ की अनेक सामाजिक–आर्थिक समस्याओं को नजदीक से देखने का अवसर मिला था और उनके निराकरण का उपाय भी उनके मस्तिष्क में एक निश्चित आकर लेने लगा था। प्रारंभ में ही उनके अन्दर यह विचार दृढ हो चुका था कि अहिंसा और सत्य उनके जीवन के अनिवार्य पथ हैं और अहिंसा सत्यनिष्ठ जीवन के लिए एक आवश्यक शर्त है, जिसके साथ समझौता नहीं किया जा सकता है। वे अहिंसा में संक्षिप्त कटौती भी स्वीकारने को तैयार नहीं थे। यही कारण है कि वे सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष के साथ ही साथ नैतिक लड़ाई में औजार के रूप में अहिंसा के प्रयोग हेतु दृढ़ हो चुके थे। गाँधी जी अच्छी तरह भिज्ञ थे कि मात्र कानूनी दर्जा प्राप्त होने से सामाजिक दर्जा में समानता और भ्रातृत्व तबतक असंभव है, जबतक लोगों का हृदय परिवर्तित नहीं हो। हिंसक ढ़ंग से किसी की भावना और विचार को नियंत्रित करना आसान है, परन्तु उसे पूर्णरूपेण परिवत्तित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि हिंसा अन्ततः घृणा को जन्म देती है, जिससे वैमनस्यता में और वृद्धि होती है। अतः प्रगति सामाजिक हो या आर्थिक

या रजनीतिक अहिंसक मार्ग को छोड़ कर कोई विकल्प नहीं है। सिद्धांतो में गाँधी को किसी नवीनता का अनुभव नहीं हुआ। उनके ऊपर भारतीय नैतिक व्यवस्था में स्थापित प्राचीन सामाजिक व्यवस्था ने अत्यधिक प्रभाव डाला, क्योंकि उनमें भी समाजावादी और साम्यवादी तत्त्व मौजूद हैं। इसलिए उन्होनें लोगों को पाश्चात्य सिद्धान्तों पर चलते से मना किया, क्योंकि अधिकांश लोग पुस्तक या सामाचार पत्रों के माध्यम से पाश्चात्य दर्शन को तो जान लेते थे परन्तु वहाँ की इन दार्शनिक मान्याओं से उपजे कुप्रभावों को जानने में वे पूर्णरूपेण अक्षम थे। गाँधी ने उन कुप्रभावों को अपनी आँखों से देखा था। भारत की भोली–भाली जनता जो सहज और जन्मजात रूप से आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास करने वाली थी, उसे कैसे उस चकाचौंध भरे मार्ग में प्रवेश करने दिया जाय, जिसका अन्त एक भयानक अंधकार में होना था। द्वितीयतः यदि ऐसा होता तो भारत अपना मौलिक स्वरूप ही गंवा बैठता। इन्हीं सब कारणों से गाँधी ने अपने प्रगति संबधी विचारों का आधार परम्परागत भारतीय दर्शन को बनाया। स्वराज की स्थापना 1908 में की तो वे श्रमिकों की बहुत सारी समस्याओं से अनभिज्ञ थे। फिर भी वे कामगारों की दयनीय अवस्था से पूर्णतः अवगत थे। उन्होंने सारे अनर्थ की जड़ मशीनीकरण और औद्योगिकरण को बतलाया। ''आज हजारों कामगार एक साथ काम करते हैं। उनके हालात जानवरों से भी बदतर हैं। वे अपने जीवन को दाव पर लगाकर भी काम करने को ललायित हैं। खतरनाक कार्यों को वे मात्र अमीरों के हित में करने का जोखिम उठाते हैं।[5] तत्कालीन कांग्रेसी नेताओं में दादा भाई नौरोजी एवं रमेश चन्द्रा दत्त के आर्थिक विचारों का गाँधी पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। गाँधी जी स्वयं लिखते हैं कि रमेश चन्द्र दन्त ने जमींदारों द्वारा किये जा रहे शोषण और मालगुजारी वसूली का जो विवरण प्रस्तुत किया उसे पढ़कर वे (गाँधी जी) रो उठे
थे।[6]

रमेश चन्द्र दन्त के अलावे दादा भाई नौरोजी के विचारों का भी यथेष्ठ प्रभाव गाँधी के प्रगति संबंधी विचारों पर पड़ा था। नौरोजी भारत की निर्धनता के लिए एक मात्र दोषी अंग्रेजी शासन को मानते थे। इसके अलावे गाँधी जी पर दयानन्द सरस्वती की आर्य समाजी विचार धारा का भी प्रभाव पड़ा था, जिसमें उन्होंने कर्मकाण्ड पर अधिक जोर का विरोध कर मानव–मानव के अन्तर को समाप्त करने पर बल दिया था। गांधी ने अस्पृश्यता निवारण का प्रयास किया था। इसी तरह एनी बेसेंट द्वारा प्रतिपादित गृह शासन का प्रभाव भी गाँधी जी पर पड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि उन्होंने भी भारत की गरीबी का कारण अंग्रेजों के शासन को माना था, जिसने यहाँ की ग्रामीण जीवन व्यवस्था को छिन्न–भिन्न कर दिया था''। इसके अलावे वर्णाश्रम धर्म में जो नैतिक आर्थिक विचार छिपा था उसने भी गाँधी पर यथेष्ट प्रभाव छोड़ा। वस्तुतः श्रम विभाजन की यह एक अच्छी व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में आर्थिक समानता को आसनी से स्थापित किया जा सकता है।[7] उन्होंने भारतीय समाज के दो कोढ़ अच्छी तरह पहचान लिया था– एक जातिवाद और दूसरा साम्प्रदायिकता। इसलिए उन्होंने तत्काल सामाजिक समानता को स्थापित करने पर जोर दिया, क्योंकि वे आगत खतरे को जान चुके थे। आर्थिक विषमता को देखते हुए उन्होंने खूनी संघर्ष का भी अनुमान कर लिया था। यदि हालात यही रहे तो खूनी संघर्ष को कोई नहीं टाल सकता।[8]

गाँधी जी प्राकृतिक जीवन को कृत्रिम जीवन से श्रेष्ठ मानते हैं। वे आधुनिकता के कट्टर विरोधी थे। आधुनिकता हमारी दृष्टि में निहित है और दृष्टि कालसापेक्ष है। गाँधी जी भी जब रेल, रोड, बिजली, बाँध, नहर, कारखाना आदि का विरोध करते हैं, तो इसका आशय यही था। कृत्रिम चीज दुःख अधिक देती है और सुख कम। गाँव को उठाने के लिए सड़क और रेल नहीं प्रथमतः उसके जीवन स्तर को सुधारना आवश्यक है। यदि रेल, रोड, बिजली और नहर के द्वारा गाँव का जीवन स्तर सुधरता हो तो यह उत्तम है, अन्यथा नहीं।

गाँधी जी बड़े–बड़े अस्पतालों के स्थान पर प्राकृतिक चिकित्सा के समर्थक थे। उनका विश्वास था कि हम प्राकृतिक ढ़ंग से रहें और सभी नियमों का पालन करें तो बीमारी होगी ही नहीं। श्रम करने से शरीर तन्दुरूस्त रहता है। शरीर का धर्म, श्रम और व्यायाम हैं। परन्तु इन दोनों को छोड़ कर लोग आलसी और व्यसनी हो जाते हैं। जो खाद्य नहीं है उसे खाते हैं, जो पेय नहीं है उसे पीते हैं और इसी का परिणाम बीमारी है। उनका विश्वास था जैसा कि उन्होंने 1934 में कहा भी था कि जब हम पाप करते हैं तभी हमें प्रकृति दण्ड देती है।[9] देश में बढ़ती हुई वेश्यावृत्ति, शराब की बिक्री, पर्यावरण की समस्या, साम्प्रदायिता के खतरे, आतंकवाद, एड्स जैसे भयानक रोगग्रस्त रोगियों की बढ़ती हुई संख्या, नित्य उजागर होते घोटाले फेरा उलंघन, सांसदों की खरीद–फरोख्त यह सब आखिर उदारीकरण अथवा अतिशय पूँजवृद्धि के प्रति बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा के चलते है। इतनी विकृतियों को देखकर सहज ही यह अनुमान करना पड़ता है कि गाँधी के प्रगति संबंधी विचार इस देश और पूरे मानव समाज के लिए कितने उपयोगी है। संभवतः इन्हीं सब कारणों को देखकर धर्मयुग के सम्पादकीय में धर्मवीर भारती को लिखना पड़ा, ''आज भारत को बचाने के लिए एक नहीं अनेक गाँधी चाहिए।''[10] आज पूरे विश्व में पर्यावरण को बचाने के लिए ओजोन परत की सुरक्षा के लिए प्रदूषण से मुक्ति के लिए इको फिलॉसोफी, इको एथिक्स, इकोलॉजी और इको सोसायटी की स्थापना हो रही है।[11] यदि गाँधी के प्रगति मार्ग को भारत और विश्व स्तर पर अपनाया जाता तो इन अभिशापों से सहज बचा जा सकता था। गाँधी के प्रगति दर्शन का केन्द्र मानव है। साथ ही साथ हमलोगों ने यह भी देखा कि संकल्प–स्वातंत्रय के अभाव में प्रगति संभव नहीं है। गाँधी जी आर्थिक समानता पर जोर देते है। इस संदर्भ में गाँधी का अमोघ मंत्र है, ''सादा जीवन उच्च विचार''। उनके अनुसार जीवन स्तर से अधिक महत्त्व जीवन मानक को देना चाहिए तथा जीवन में आदर्शों एवं

मूल्यों का पालन करना चाहिए। जीवन में भौतिक आवश्यकताओं को कम से कम रखना चाहिए। क्योंकि जीवन का उद्देश्य मात्र भौतिक आवश्यकताएँ नहीं हैं। जो आवश्यकताएँ मानव कल्याण को बढ़ावा दे वे उचित हैं, परन्तु जिन आवश्यकताओं की पूर्त्ति के चलते मानव दासत्व, की ओर अग्रसर हो, वे अनुचित हैं। यदि आत्याधुनिक मशीनें और फैशन की सामग्री ही ऊँचे जीवन स्तर की पहचान है तो क्या इससे प्रसन्नता में वृद्धि हुई है? दासता से मुक्ति मिली है? परनिर्भरता में वृद्धि हुई है या हास? सारे प्रश्नों का निषेधात्मक उत्तर ही आता है। उनका विश्वास था कि आवश्यकताओं को सीमित करके ही संतुष्टि को अधिकतम किया जा सकता है। अर्थात् असंतुष्ट आवश्यकता की संख्या जितनी कम होगी हमें उतना ही कम कष्ट होगा। इसी पर जोर देने के लिए उन्होंने रोटी के लिए श्रम अथवा श्रम आधारित जीवन–पद्धति को अपनाने की सलाह दी।

श्रम आधारित जीवन, वैदिक वर्णव्यवस्था सर्वोत्तम विकल्प

इस संदर्भ में गाँधी जी व्यक्तिवादी हैं। वे मानवीय व्यकित्व को खण्डों में विभाजित नहीं करना चाहते थे वरन् उनका विश्वास था कि मानव जीवन सम्पूर्ण एवं अविभाज्य है, अतः उसका पूर्ण रूप से विकास किया जाना चाहिए। जिस व्यवस्था में मानव के पूर्ण विकास को स्थान नहीं दिया जाता, उसका बहिष्कार किया जाना चाहिए। वे उन्हीं सुधारों को वांछनीय मानते थे जो मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं। उनका विश्वास था कि प्रजातंत्र मनुष्य के लिए होना चाहिए न कि मानव प्रजातंत्र के लिए। व्यक्ति का पोषण भीड़ से अलग कर किया जाना चाहिए। व्यक्ति ही समाजिक प्रजातंत्र की आधार भूत इकाई है, अतः व्यक्ति ही सामाजिक कीर्त्ति की प्रेरणा का स्रोत एवं आधार होना चाहिए। उन्होंने मानव मूल्यों को दैनिक जीवन एवं उद्योगों से भी संबधित किया। व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं, अतः एक दूसरे का हित भी पूरक होना चाहिए। इस संदर्भ में गाँधी वैदिककालीन वर्ण–व्यवस्था को श्रम–विभाजन की सर्वोत्तम विधि बतलाते हैं। वे जन्म के आधार पर श्रम–विभाजन के विरोधी थे तथा कर्म के अनुसार विभाजन में विश्वास करते थे। उनके अनुसार वर्णव्यवस्था से प्रत्येक का लाभ होता है, क्योंकि इसमें किसी भी व्यवसाय का उत्तम ज्ञान व्यक्ति अपने पूर्वजों से सीखता है और उसे कुशलतापूर्वक कर सकता है। इस वर्णव्यवस्था में गाँधी एक पूर्ण सहयोग की भावना तथा साम्प्रदायिक एकता को देखते थे तथा कर्त्तव्य भावना तो इतनी अधिक थी कि व्यक्ति इसके द्वारा अपने जीवन के परम लक्ष्य तक को निर्धारित कर सकता है। उन्हीं के शब्दों में ''प्रत्येक व्यक्ति कुछ निश्चित सीमितताओं के साथ जन्म लेता है, जिन्हें हम चाह कर भी समाप्त नहीं कर सकते है। उन्हीं सीमितताओं का सावधानी पूर्वक निरीक्षण के आधार पर वर्णव्यवस्था संबंधी नियमों को निगमित किया गया है। इसके द्वारा कुछ खास लोगों के लिए कुछ खास क्षेत्र में कार्य को निश्चित किया गया है। इसके द्वारा कम से कम प्रतिस्पर्द्धा को रोकने का प्रयास किया गया है, क्योंकि सीमितताओं को स्वीकार करके व्यवस्था में यह स्वीकार किया गया है कि कोई बड़ा या छोटा नहीं है–––मेरा विचार है कि एक आदर्श समाज क्रम की उत्पत्ति तभी होगी, जब इस नियम को उच्छी तरह समझ कर इसे लागू किया जाएगा।''[12] वर्णाश्रम धर्म ''पृथ्वी पर मानव जीवन के उद्देश्य को परिभाषित करता है जिसमें शरीर और आत्मा को एक साथ धारण करने पर जोर दिया गया है''।[13]

गाँधी जी इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए सर्वोदय के सिद्धान्त को अपनाने की सलाह देते हैं, जिसमें ''बसुधैव कुटम्बकम्'' की भावना भरी हुई है। गाँधी की दृष्टि में कोई वर्ग विशेष नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव था। गरीब अपनी गरीबी से त्रस्त हैं और अमीर अपनी धन लोलुपता से त्रस्त हैं और दोनों ही एक साथ दया के पात्र हैं। कुछ आलोचक गाँधी के इस सर्वोदय को जे.एस. मिल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त (सर्वाधिक मात्रा में सर्वाधिक लोगों के लिए दुःख) अथवा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित ''बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'' की नकल मानते हैं परन्तु इस प्रकार की शंकाएँ निरर्थक हैं। गाँधी जी स्वतः कहते हैं, ''सबों के लिए अधिकतम सुख स्वतः अधिकतम संख्या को समाविष्ट करता है, और इसलिए वे अहिंसक और उपयोगितावादी एक दूसरे से अनेक बातों में समान हैं। परन्तु एक समय आयेगा जब वे विपरीत दिशा में क्रियाशील हो जायेंगे। उपयोतिगतावादी तार्किक है अतः वे स्वतः को बलिदान नहीं कर सकते हैं, जबकि हम स्वतः को बलिदान कर सकते हैं।''[14] इसलिए गाँधी ने लोगों में समानता लाने के लिए श्रम पर अधिक जोर दिया। उनके लिए श्रम की महत्ता आर्थिक व्यवस्था का मूलभूत तत्व है। कार्य करना हमारी अभिरूचि का विषय है और आलस्य एक बनावटी विकास है। तत्कालीन परिस्थितियों में जिस तरह श्रम की अवहेलना की जा रही थी, उसे देखकर गाँधी जी को बहुत दुःख हुआ। उनका कथन था कि अपने शरीर रूपी अतुल्य जीवित मशीन को तो बर्बाद कर रहे हैं साथ ही साथ उसके स्थान पर निर्जीव मशीन के प्रयोग को प्राथमिकता दे रहे हैं। वे श्रम को एक प्राकृतिक नियम मानते थे और उनका विश्वास था कि जो व्यक्ति प्राकृतिक नियम का उलंघन करता है वह विपत्ति को आमंत्रित करता है। गाँधी जी के अनुसार श्रम न केवल शरीर को स्वस्थ रखता है वरन् मस्तिष्क को भी प्रेरित करता है। गाँधी जी का विचार था कि समाज में आर्थिक अव्यवस्था इसलिए है कि एक वर्ग बिल्कुल आलसी एवं निठल्ला है जो स्वयं कोई शारीरिक श्रम नहीं करता एवं दूसरों के श्रम का अनुचित शोषण करता है। इस पर गाँधी जी ने श्रम का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए ''रोटी का श्रम'' सिद्धांत प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं के श्रम द्वारा ईमानदारी से अपना जीविका का उपार्जन करना चाहिए। उनका विश्वास था कि इस सिद्धांत से आर्थिक समानता स्थापित हो जाएगी तथा भुखमरी भी दूर हो जाएगी। इससे वर्ग–भेद भी समाप्त हो जाएगा तथा अमीर और गरीब के बीच का संघर्ष भी समाप्त हो जाएगा।

P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-III, ISSUE-III, February-2015
E: ISSN No. 2349-9435
Periodic Research

मुद्रा के संबंध में गाँधी का विचार था कि इसने मानवीय मूल्यों को समाप्त कर दिया है तथा मौद्रिक अर्थव्यवस्था ने उत्पादन एवं उपभोक्ताओं के बीच की खाई को चौड़ा कर दिया है। और बाजार को इतना विस्तृत कर दिया है कि वह हमारी पहुँच से बाहर हो गया है। उनका विचार था कि मनुष्य को धन के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए। वे ऐसी आर्थिक प्रणाली की रचना करना चाहते थे जिसमें श्रम ही धन हो न कि धातु का सिक्का। क्योंकि मनुष्य अपने श्रम का प्रयोग अपने इच्छानुसार कर सकता है। श्रम का विनियम नियमित स्वतंत्र, उचित एवं समान शर्त्तों पर होता है। अतः यह चोरी नहीं है। वस्तु विनियम प्रथा में विनियम की एक लम्बी श्रृंखला सीमित हो जाती है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गाँधी जी ने स्थानीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। उनके अनुसार मुद्रा में इतना अधिक परिवर्तन एवं नियंत्रण होता है कि वह आर्थिक क्रियाओं का अपर्याप्त माप सिद्ध होता है। उन्होंने अहिंसा को व्यापक एवं परिस्थितिजन्य बनाकर विश्व की सबसे शक्तिशाली शक्ति को नतमस्तक होने के लिए बाध्य किया। अहिंसा–तत्व को प्राचीन ऋषियों ने खोजा था तथापि गांधी ने ही अपने जीवन में प्रयत्न करके आविष्कार किया कि ''हिंसा के समान अहिंसा का भी नानाविध उपयोग और विकास किया जा सकता है। अहिंसा कमजोरों का साधन या अस्त्र नहीं है अपितु बलवानों का हथियार है। दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति लोकमत है और वह सत्य और अहिंसा से पैदा हो सकती है। बहादुरी तो मुझमें तब आयेगी जब मैं मारा जाऊँ तो भी मारने वाले के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता रहूँ। जो कमजोर है, डरपोक है, वह अहिंसक नहीं हो सकता। साहसी और बलवान हीं अहिंसक हो सकता है। पशुबल, बाहुबल से कही अधिक आत्मबल है जो अहिंसा द्वारा ही मिलता है। गांधी अहिंसा को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। जैन, बौद्ध तथा योग दर्शनों में अहिंसा परिभाषित है, पर वे इतनी व्यापक नहीं है जितनी की गांधी जी द्वारा दी गई परिभाषा है। गांधी के शब्दों में ''यह अहिंसा किसी को न मारना इतना तो है ही' कुविचार, उतावली, मिथ्या भाषण, द्वेष, किसी का बुरा चाहना, संसार की आवश्यक वस्तुओं पर कब्जा रखना भी हिंसा है। भगवान ने मुझे वह शक्ति नहीं दिया है कि मैं विश्व का अहिंसा की दृष्टि से पथ प्रदर्शन कर सकूँ। फिर भी मैं सोचता हूँ उसने मेरा चुनाव इसलिए अवश्य किया है कि भारत के समक्ष अहिंसा का सिद्धान्त रखूँ और उसके कमजोरियों से मुक्त करूँ। मैं उस प्रकाश के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ जो अंधकार को मिटाएगा। वे सभी लोग जिनको अहिंसा में पूर्ण विश्वास है, मेरी इस प्रार्थना में साथ दें। अपने मित्र को लिखें एक पत्र में गांधी कहते हैं–''अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार संभव नहीं है। वे दोनों आपस में इतना अंतर्ग्रथित है कि उन्हें आसानी से अलग कर पाना संभव नहीं है। अहिंसा साधन है और सत्य साध्य है। गांधी ने बार–बार कहा है कि सत्य की खोज के क्रम में उन्हें अहिंसा का साक्षात्कार हुआ। अहिंसा पर पहली बार वे 1915 में विचार करना शुरू किया और इससे संबधित तथ्य उनके जीवन के अंत तक विकसित होते रहे। गांधी आगे कहते हैं ''मुझे लगता है कि अहिंसा मेरे रोम–रोम में बसी है। अहिंसा और सत्य–मेरे दो फेफड़े हैं, इनके सिवा मैं जी नहीं सकता। मैं प्रतिक्षण अहिंसा की अतुल शक्ति एवं मनुष्य की लघुता का कायल होता जाता हूँ। हमे सत्य और अहिंसा को व्यक्तिगत आचरण की ही नहीं बल्कि समूहों, समुदायों और राष्ट्रों की आचरण की वस्तु बनाना होगा। कम से कम मेरा स्वप्न यही है और मैं इसकी प्राप्ति का प्रयास करते हुए ही जीऊँगा और मरूँगा। गांधी के अन्तिम सफल अनशन (13 जनवरी 1948) पर 'न्यूज क्रानिकल' ने लिखा ''महात्मा गांधी के उपवास की सफलता से एक ऐसी शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है, जो अणुबम से भी बड़ी शक्ति सिद्ध हो सकती है; जिसे पश्चिम को ईर्ष्या और आशा से देखना चाहिए। पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में यह बहुत समय से स्वींकार कर लिया गया है कि मिस्टर गांधी के हाथ में, एक ऐसी शक्ति है जिसके सामने कोई भौतिक अस्त्र काम नहीं दे सकते।

गांधी जी मनुष्य की जाग्रत आत्म चेतना को अहिंसक शक्ति का मुख्य स्रोत मानते थे और उस शक्ति का व्यक्ति से समाज तक विस्तार कैसे हो, इस दृष्टि से विविध प्रयोग करते थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि अणु शस्त्रों के उद्‌भव के बाद तो मैदान में अहिंसा की एक मात्र शस्त्र बाकी रह गया है। यही एक वस्तु है जिसे अणु बम नष्ट नहीं कर सकता। जब अणु बम के प्रयोग से हिरोशिमा नष्ट हो गया तब मैं अपने मन में कहा यदि अब भी संसार अहिंसा को नहीं अपनाता, तो मानव जाति का सर्वनाश निश्चित है। अपरिग्रह, अस्तेय, शरीर श्रम और स्वदेशी के आदर्शों से निर्धारित हुआ था। आर्थिक समता का आदर्श उन्हें प्रिय था, क्योंकि विलासिता और भुखमरी का वह अस्तित्व शोषण और जीवन की निष्फलता का द्योतक है और धनी एवं गरीब दोनों के लिए आध्यात्मिक एकता की अनुभूति को कठिन कर देता है। इनके अनुसार आर्थिक समता के लिए कार्य करना अहिंसक स्वतंत्रता की श्रेष्ठ कुंजी है, क्योंकि अहिंसक राज्य तब तक असंभव है जब तक कि गरीबों और अमीरों के बीच की गहरी खाई पाट नहीं दी जाती और उनका संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता।[15] आर्थिक समता से गाँधी का आशय पूर्ण आर्थिक समता नहीं था, बल्कि लगभग समता था। ''आर्थिक समता का यह अर्थ कभी नहीं समझना चाहिए कि हर व्यक्ति के पास बराबर परिमाण में सांसारिक वस्तुएँ हों, लेकिन उनका अर्थ है कि हरएक के पास रहने को ठीक मकान हो, खाने के लिए काफी संतुलित आहार हो और शरीर ढ़कने को काफी खद्दर हो। उसका यह भी अर्थ है कि आज की निर्दय असमता शुद्ध अहिंसक साधनों से हटा दी जायेगी''[16] प्रगति से इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए समाज को प्रयत्नशील होना चाहिए कि सब प्रकार के कार्यों के लिए समान पारिश्रमिक हो। इस आदर्श की उपलब्धि के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति स्वेच्छा से निर्धनता को अपनावे। अर्थात् आज और कल की आवश्यकता से अधिक जमा नहीं करें। उन्हीं के शब्दों में, ''मैं अहिंसा द्वारा जनता का मत अपने दृष्टिकोण के

अनुरूप परिवर्न्तित करके आर्थिक समता की स्थापना करूँगा। मैं अपने मत के अनुरूप सम्पूर्ण समाज को परिवर्त्तित कर लेने की प्रतीक्षा न करूँगा, वरन् तुरन्त स्वयं अपने से ही इसका प्रारंभ करूँगा। उसके लिए मुझे अपने को निर्धनों में अधिकतम निर्धन के स्तर तक लाना होगा।[17]

गाँधी जी के अनुसार केन्द्रित उद्योग और अहिंसा परस्पर विरोधी है। बड़े पैमाने का उत्पादन प्रकृति और मनुष्य का शोषण है और यह अहिंसा का सर्वथा निषेध है।

गाँधी जी के अनुसार भारतीय समाज का सबसे बड़ा कोढ़ अस्पृश्यता है। अतः प्रत्येक भारतीय को इसे एक सामाजिक कलंक मानकर दूर करने का प्रयास करना चाहिए। इसके पीछे भी गाँधी जी आध्यात्मिक तत्त्व को मूल मानते हैं। गीता और वेदान्त में बतलाया गया है कि सभी जीवों और मानवों में समाज आत्मा है। अतः सबों को समान दर्जा दिये बिना न तो अहिंसा पूर्णरूपेण जीवन में अवतरित होगी और न सामाजिक प्रगति ही संभव हो पायेगी। सभी मनुष्य एक ही ईश्वर की संतान हैं, इसलिए गाँधी जी का अस्पृश्यता सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि मानव–मानव के बीच के भेद को मिटा देना चाहिए। यह एक तरह से पूर्वजों द्वारा किये गये अपराध का प्रायश्चित है। अतः प्रत्येक मानव को अपने समान मानकर वैसा ही व्यवहार करें जैसा आप उनसे अपेक्षा करते हैं, किसी समाज का विकास बिना इस मूलमंत्र को अपनाकर संभव नहीं है। इसलिए गाँधी जी ने कहा, ''यदि स्वाधीन भारत के संविधान में अस्पृश्यता निवारण
का नियम समाविष्ट नहीं हो तो यह निराधार है[18]। गाँधी जी प्राचीन भारतीय जीवन पद्धति में वर्णव्यवस्था को एक आदर्श स्थिति मानते हैं। परन्तु आज के विकृत पिछड़े–अगड़े, स्वर्ण और अन्यान्य प्रकार के दोषपूर्ण समाज को नहीं। गाँधी के अनुसार अस्पृश्यता निवारण का आशय ऊँच–नीच का भेद नहीं हो, वैवाहिक या सामाजिक संबंध पर प्रतिबंध नहीं हो। अस्पृश्यता निवारण का आशय है जाति प्रथा को समाप्त करना और तब हमारा समाज प्राचीन वर्णव्यवस्था का स्थान ग्रहण करेगा।[19] उनका विचार है कि वास्तविक अर्थ में वर्णों का आज अस्तित्व नहीं रह गया है। वर्ण का उत्तम रूप केवल हिन्दुओं के लिए ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए है। ''यह ऊर्ध्वगामी स्थिति में मनुष्य के लिए स्वाभाविक है।''[20] गाँधी जी वर्ण नियम की परिभाषा करते हुए कहते हैं, ''वर्ण–नियम का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्वजों का पैतृक धंधा धर्म–कर्त्तव्य की भाँति अपनाना चाहिए, यदि वह ;धंधाद्ध मूलभूत नीति से असंगत न हो। उसी धंधे से वह ;व्यक्तिद्ध अपनी जीविका कमाये। वह धन–संचय न करे, किन्तु बचत को जनहित में लगा दे।''[21] फिर भी वर्ण का जन्म के साथ निकट संबंध होते हुए भी यह संबंध अटूट नहीं है। यद्यपि वर्ण का निर्धारण जन्म से होता है, किन्तु उसकी रक्षा कर्त्तव्य पालन से होती है। ब्राह्मण माता–पिता का पुत्र ब्राह्मण कहलायेगा किन्तु, वयस्क हो जाने पर यदि उसके जीवन में ब्राह्मण के गुणों की अभिव्यक्ति न होगी तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। उसका ब्राह्मणत्व से पतन हो चुकेगा। दूसरी ओर वह व्यक्ति जो जन्म से ब्राह्मण नहीं है, किन्तु अपने आचरण में ब्राह्मण के गुणों की अभिव्यक्ति करता है, ब्राह्मण माना जायेगा, यद्यपि वह स्वयं ब्राह्मण होना अस्वीकार करेगा।[22] गाँधी जी इस बात की व्याख्या करते हैं कि जीविकोपार्जन के लिए वर्ण मनुष्य को क्यों अपने पूर्वजों के धंधों तक ही सीमित रखता है। ''वर्णाश्रम–धर्म इस पृथ्वी पर मनुष्य के कार्य की परिभाषा करता है। वह इसलिए नहीं जन्मा है कि दिन–प्रतिदिन धन–संचय के मार्ग और जीवन यापन के विविध साधन खोजता रहे, इसके विपरीत मनुष्य इसलिए जन्मा है कि वह अपनी शक्ति के प्रत्येक कण का उपयोग अपने निर्मता को जानने के लिए करे।''[23] इस नियम का पालन स्वाभाविक रीति से होना चाहिए और उसमें शर्म या प्रतिष्ठा का विचार न आना चाहिए। इस नियम का यह भी अर्थ है कि धंधों और पेशों में कोई ऊँचा–नीचा नहीं, सब बराबर हैं और सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए संन्यासी की भाँति ही करना चाहिए। अतः वर्ण नियम में अस्पृश्यता की कोई गुंजाइश नहीं।

जब गाँधी जी अस्पृश्यता की निंदा करते हैं तो उनके ध्यान में विशेष रूप से भारत में प्रचलित अस्पृश्यता होती है। किन्तु अस्पृश्यता का नियम व्यापक महत्ता का है, क्योंकि संसार के प्रत्येक देश में, हमारे देश की तरह, मनुष्य–मनुष्य के बीच भेद–भाव की दीवारें हैं। अमेरिका में नीग्रो जाति के प्रति उपनिवेशों में वहाँ के रहने वालों के प्रति, अन्य देशों में आदिवासियों के प्रति दुर्व्यवहार इसी रोग का लक्षण है और धर्म, जाति, वर्ण, धंधे इत्यादि के भेदों को भुलाकर सब मनुष्यों की समता के सिद्धान्त का निषेध है।

सर्वधर्म समभाव–गाँधी जी केवल मनुष्यों की समता में ही नहीं संसार के प्रमुख धर्मों की समता में भी विश्वास करते हैं। सर्वधर्म समभाव इस बात का निष्कर्ष है कि मनुष्य द्वारा ज्ञात सत्य सदा सापेक्षिक होता है, निरपेक्ष कभी नहीं होता।

जिस प्रकार आत्मा अनेक शरीर में प्रकट होती है, उसी प्रकार सच्चा और पूर्ण धर्म एक ही है, लेकिन मनुष्य द्वारा प्रचारित होने पर वह अनेक हो जाता है। उन्होंने 1934 में लिखा था, ''मैं संसार के सब महान धर्मो के मूलभूत सत्य में विश्वास करता हूँ। मूल में वे सब एक हैं और एक–दूसरे के सहायक हैं।[24] उनके अनुसार सब धर्मों का प्रेरक हेतु एक ही हैः वह है मनुष्य–जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने की इच्छा। मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए सभी धर्म सत्य के अपूर्ण प्रकाशन हैं और उनमें भूल की संभावना है। इस प्रकार कोई भी धर्म नितांत पूर्ण नहीं है, सभी धर्म समान रूप से अपूर्ण है या न्यूनाधिक पूर्ण है। धर्मों की अपूर्णता परम्पराओं पर आधारित किन्तु बुद्धि से असंगत विश्वासों और कृत्यों में अभिव्यक्त होती है। धर्मों की तुलनात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न नहीं उठता। इसलिए समाज की प्रगति चाहने वालों को चाहिए कि वह प्रत्येक धर्म का आदर और अध्ययन करे। यह आदरपूर्ण अध्ययन

उसे सब धर्मों की एकता समझने में और सर्वधर्म–समानत्व की भावना विकसित करने में सहायक होगा। उसे चाहिए कि वह अपने धर्म के दोषों के प्रति सजग रहे। लेकिन सभी धर्मों में दोष है, इसलिए उसे अपना धर्म न छोड़ना चाहिए।[25] धर्मों की समता की स्वीकृति आवश्यक रूप से धर्म–परिवर्तन के लिए किये जाने वाले प्रचार के विरूद्ध है।[26] गाँव की एक अन्य समस्या नशाखोरी है। लोग नशे की लत के चलते घर की आमदनी को बर्बाद करते हैं, फलतः घर की खुशियाँ, सुख–शांति भी बर्बाद होती है। आज कुछ लोग सरकार में रहकर गाँधीवादी होने का दावा करते हैं और एक ही साथ ताड़ी पर से टैक्स भी उठाते हैं। यह प्रगति नहीं अवनति का पथ है। उनके अनुसार सेवाकार्य द्वारा और निर्दोष मन बहलाव के द्वारा इन नशाखोरों को प्रभाबित किया जा सकता है और उनकी बुरी लत को छुड़वाया जा सकता है। परन्तु मनोरंजन के नाम पर अश्लील प्रदर्शन के गाँधी जी सर्वथा विरूद्ध थे। एक अन्य समस्या गाँव–गाँव तक साम्प्रदायिक एकता को स्थापित करने की है। साम्प्रदायिक एकता का अर्थ है अटूट हार्दिक एकता, न कि कृत्रिम समझौतों के फलस्वरूप उत्पन्न राजनैतिक एकता। धार्मिक कटुता अहिंसक वातावरण के अभाव का चिन्ह हैं। साम्प्रदायिक अहिष्णुता और हिंसा जनतंत्र और मानव स्वतंत्रता के लिए घातक है। अल्प संख्यक को समाज में पूरी धार्मिक और सांस्कृति स्वतंत्रता देनी चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि समाज में कोई व्यक्ति डर कर नहीं रहता हो। परन्तु साम्प्रदायिक एकता की स्थापना अहिंसा के मार्ग द्वारा समझा–बुझाकर और अनशन आदि के द्वारा होनी चाहिए। अहिंसक समाज में अस्पृश्यता और साम्प्रदायिता के लिए कोई स्थान नहीं। यह गाँधी का ही प्रयास है कि आज भारत में हरिजन की अवस्था में सुधार है और आज हरिजन का आत्मविश्वास जागृत हो रहा है। अहिंसक समाज में स्त्रियों को भी दबाकर रखने की भी गुंजाइश नहीं। उन्हीं के शब्दों में, ''अहिंसा पर आधारित जीवन–योजना में स्त्रियों को अपने भाग्य निर्धारण को वही अधिकार है जो पुरूषों को है।[27] गाँधी जी चाहते थे कि स्त्रियों की परम्परागत और वैधानिक स्थिति इस प्रकार सुधर जाय कि वे पुरूषों के साथ समानता के स्तर पर आ जायें ओर सेवा कार्य में उनकी वास्तविक सहायक बन सकें।

शिक्षा

यदि रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा जनसाधारण का मत परिवत्तन करके उनको नए अहिंसक जीवन की और अग्रसर करना है और कर्त्तव्यों का अपने आप पालन करना सीखे। यदि समाज और व्यक्ति में से कोई गलती करता है तो दूसरे को उसका अहिंसक प्रतिरोध करना चाहिए। व्यक्ति की आंतरिक नीति–भावना और अहिंसक प्रतिरोध का दबाव व्यक्ति को समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करने को प्रेरित करेंगे। गाँधी के अनुसार, ''अहिंसा पर आधारित समाज ग्रामों में बसे हुए ऐसे समुदायों का ही हो सकता है, जिनमें स्वेच्छापूर्ण सहयोग सम्मानपूर्ण और शांतिमय जीवन की शर्त है।''[28]

यथा संभव इन ग्राम समाजों का प्रत्येक कार्य सहकारिता के आधार पर होगा। इस प्रकार का ग्राम व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधारित पूर्ण जनतंत्र होगा। व्यक्ति अपने शासन का निर्माता है और उसे स्वतः पर अहिंसा के द्वारा नियमन भी करता है। वह और उसका ग्राम संसार की शक्ति की अवज्ञा कर सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक ग्रामवासी के जीवन का नियमन इस कानून से होता है कि वह अपने ग्राम के सम्मान की रक्षा में मृत्यु को सह लेगा।''[29]

आदर्श समाज निश्चित रूपेण विकेन्द्रित होगा और समता उसके प्रत्येक क्षेत्र की विशेषता होगी। केन्द्रीकरण से थोड़े से लोगों के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता केन्द्रित हो जाती है और परिणामस्वरूप शोषण, अनाचार, मनमानापन आदि को बढ़ावा मिलता है। यह सब आदर्श समाज की संरचना में बाधा उपस्थित करते हैं। केन्द्रीकरण से सामाजिक संबंध निवैंयक्ति हो जाते हैं और नैतिक संवेदनशीलता का हास होता है। अतः केन्द्रीकरण एक अजनतांत्रिक प्रक्रिया है, जबकि विकेन्द्रीकरण एक जनतांत्रिक प्रक्रिया। गाँधी जी के शब्दों में, ''मेरा सुझाव है कि यदि भारत को अहिंसक रीति से विकास करना है तो उसे बहुत बातों का विकेन्द्रीकरण करना होगा। केन्द्रीकरण का संचालन और उसकी रक्षा बिना पर्याप्त शक्ति के नहीं हो सकती।''[30] आदर्श समाज अहिंसा पर आधारित होगा। इसलिए इकाई पर संघ का नियंत्रण विशुद्ध रूप से नैतिक होगा, किसी भी रूप से राज्य या कोई अन्य सत्ता बल प्रयोग नहीं करेगा। अपरिग्रह और शरीर श्रम पर प्रतिष्ठित समाज कृषि प्रधान होगा और ग्रामीण सभ्यता को अपनाएगा। आर्थिक जीवन में शोषण, और मालिक–नौकर के कृत्रिम संबंध का अन्त हो जाएगा। उत्पादन ग्रामीण उद्योग–धंधों के द्वारा होगा।

आदर्श समाज विकेन्द्रित होगा और कोई भी केन्द्रित उद्योग विकसित नहीं किया जाएगा। अतः बाजार, विनिमय, वितरण आदि की समस्या ही नहीं होगी। परिणामस्वरूवप यातायात के भारी साधनों को विकसित करने की आवश्यकता नहीं है। न वकील और न कचहरी ही होंगे। छोटे–छोटे विवाद को गाँव के पंचायत स्तर पर ही निपटा लिया जाएगा और वह भी अहिंसक ढ़ंग से जिससे कि वैमनस्यता नहीं बढ़े। पुनः परस्पर निर्भर समाज में झगड़े भी कम ही होंगे। न गाँव को डॉक्टर की आवश्यकता है और न दवाइयों की और न बड़े नगर को विकसित करने की। गाँधी जी लिखते हैं, ''मुझे संदेह है कि शायद इस्पात–युग प्रस्तर युग से आगे नहीं है। मैं हृदय से दूरी और समय कम करने की, पाशविक वासनाओं की वृद्धि करने की और उनके संतोष के लिए भूमण्डल के छोर तक चले जाने की इस उन्मादपूर्ण आकांक्षा से घृणा करता हूँ।''[31] पुनः वे कहते हैं, ''हिन्दुस्तान की मुक्ति इसी में है कि उसने जो कुछ पिछले पचास साल में सीखा है उसे भुला दे। रेल, तार, वकील, डॉक्टर आदि को जाना ही होगा।''[32] जब कभी नियंत्रण की बात समाज या व्यक्ति पर उठेगी तो उसके लिए नैतिकता और धर्म ही पर्याप्त है।

P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-III, ISSUE-III, February-2015
E: ISSN No. 2349-9435
Periodic Research

जहाँ ''धर्म'' शब्द का अर्थ लोग ''मजहब'' या ''मत'' से लेते हैं, वही गाँधी जी इस शब्द का अर्थ संस्कृति और अनुशासन की पद्धति से लेते हैं। इनके अनुसार धर्म आचरण की वह नियमावली है जिसका संचालन जनमत या जनता की नीतिभावना के द्वारा होता है। नैतिक चेतना व्यक्ति की आत्ममूलक होती हैं, क्योंकि वह व्यक्ति की विवेकशीलता पर आश्रित होती है। कानून बाहरी साधन होता है जिसका नियंत्रण सरकार के हाथ में होता है और वह हमें दण्ड का भय दिखाकर कानून को मानने के लिए बाध्य करता है। एक प्रकार से यह आदेश हमारे ऊपर थोपा जाता है। गाँधी के अनुसार ऐसा करना अनैतिक है, ''कोई भी कार्य जब तक वह स्वेच्छा से न किया गया हो नैतिक नहीं कहा जा सकता। ———जब तक हम मशीनों की तरह व्यवहार करते हैं, तबतक नीति का सवाल नहीं उठ सकता। यदि हम किसी कार्य को नैतिक कहना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि वह जान–बूझ कर कर्त्तव्य के रूप में किया गया हो।''[33] धर्म न तो व्यक्ति की नीति–भावना की तरह आत्ममूलक है, न कानून की तरह वस्तुमूलक बल्कि इन दोनों के मध्य स्थित है। धर्म एक प्रकार से सामाजिक नैतिक चेतना है। यह कोई शाश्वत नियमावली नहीं, बल्कि समाज की जीवन–स्फूर्त्ति और जागृत आत्मा है जिसका समाज की प्रगति के साथ परिवर्त्तन होता रहता है। ऊपर हमने देखा है कि किस तरह गाँधी ने मूर्त्तिपूजा और भक्ति तक को विकास का मार्ग माना है जिसे ज्ञान होने पर व्यक्ति धीरे–धीरे छोड़ देता है। यही सामाजिक नैतिक चेतना सामाजिक एकता का आधार बनेगी।

गाँधी जी सर्वप्रथम अपराध और दण्ड के संबंध में राज्य के कार्य का निर्धारण करना चाहते हैं। उनके अनुसार अपराध एक रोग है, जिसका बहुत हद तक कारण आर्थिक और सामाजिक विषमता है। जब ग्राम्य जीवन की स्थापना होगी और उत्पादन का विकेन्द्रीकरण हो जायेगा तो स्वतः सामाजिक और आर्थिक समता की स्थापना हो जायेगी और अधिकांश अपराध बन्द हो जायेंगे। यदि फिर भी अपराध रह जाता है तो उसे बलपूर्वक दबाने का प्रयास राज्य को नहीं करना चाहिए और न ही अपराधी जैसा वर्त्ताव ही होना चाहिए।[34] अहिंसक समाज में धीरे–धीरे सुधार होगा और अन्ततः भ्रातृत्व की स्थापना हो जाएगी। अहिंसक वीर अपराधी को समझा–बुझाकर उसमें सुधार लाने का प्रयास करेगा। परन्तु अपराध से मुक्त समाज एकदम संभव नहीं है। इसलिए सरकार को आन्तरिक शांति की स्थापना हर हालत में करना नितांत आवश्यक है। यदि अपराधी को पूर्णतः छोड़ दिया जाय तो वह स्वतंत्रता का हनन करेगा। अपराधी वातावरण को हिंसक बनाता है और सुव्यवस्थित समाज के लिए विनाशक भी है। उन्हीं के शब्दों में, ''कोई भी सरकार, जो सरकार कहलाने योग्य है, अराजकता को सहन न करेगी।''[35]

फिर भी गाँधी जी व्यक्तिगत रूप से अपराधी को जेल में बन्द करने के पक्ष में नहीं थे।[36] वास्तव में वे व्यक्तिगत या सार्वजनिक अपराधी के लिए दण्ड प्रथा में विश्वास नहीं करते थे।[37] यदि उनके हाथों में व्यवस्था होती तो वे जेल के दरवाजे खोल देते और हत्यारे को भी स्वतंत्र छोड़ देते। परन्तु इस अव्यहारिकता को गाँधी जी अनुभूत करते थे। इसलिए उन्होंने 1937 में लिखा, ''व्यक्तिगत रूप से मुझे सभी अपराधों के मामले में, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं दण्ड संबंधी रूकावटों से बचने का कोई मार्ग नहीं मिला है, दण्ड क्रियाशील रहेगा, परन्तु वह अहिंसक होगा।''[38] गाँधी यहाँ दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत मृदु मत के समर्थक हो जाते हैं और बतलाते हैं कि अपराधी भी राज्य के लिए साधन नहीं, बल्कि अनिवार्य सामाजिक इकाई है और उसमें सुधार लाकर उसे मुख्यधारा से जोड़ना अनिवार्य है। अहिंसक राज्य में गाँधी हत्यारे को भी सुधार–गृह में भेजने की सलाह देते हैं जहाँ उसे अधिक से अधिक सुधरने का अवसर प्राप्त हो। गाँधी मृत्यु दण्ड के प्रति कठोर विरोध रखते थे। क्योंकि इस दण्ड को वापस लेने की कोई गुंजाइश नहीं है। इस प्रकार राज्य का पहला कार्य जेल को अस्पताल और सुधार–गृह में परिणत करना है, जिससे वहाँ भी खद्धर को प्रश्रय मिले और कैदी सुधर कर जब अपने घर जाएँ तो वह स्वावलम्बी जीवन पद्धति का प्रचार करे।

पुलिस और फौज

गाँधी जी मानते हैं कि अहिंसक राज्य में भी पुलिस रहेगी, लेकिन वह वर्तमान पुलिस की तरह बर्बर और हिंसक नहीं होगी, बल्कि एक शांति सेना होगी जो बाढ़, महामारी आदि के अवसर पर सत्याग्रही को सेवा में सहयोग देगी। पुलिस को यदि हथियार का प्रयोग करना भी पड़ेगा तो वह दंगा, डाका और लूट को रोकने तक ही सीमित होगा। दंगा को रोकने में अश्रुगैस का प्रयोग उचित है। सेना के संबंध में उनका विचार था कि सच्चे जनतंत्र में किसी भी प्रयोजन के लिए सैनिक रखना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि सैनिक सहायता पर निर्भर रहने वाला राज्य नाम मात्र का जनतंत्र हो जायेगा। सैनिक शक्ति मस्तिष्क के स्वतंत्र विकास में बाधा डालता है। वह मनुष्य की आत्मा का विनाश करता है।[39] उनका विश्वास था कि अगर भारत ने अपनी अहिंसक शक्ति नहीं बढ़ाई तो न वह अपने लिए कुछ कर पाएगा और न संसार के लिए। यदि भारत का फौजीकरण हुआ तो वह बर्बाद होगा और संसार भी बर्बाद होगी।[40] गाँधी के अनुसार विदेशी आक्रमण के विरूद्ध प्रतिरक्षा के साधन के रूप में भी सेना के विरूद्ध उन्होंने अपना निश्चित मत घोषित किया था। जो लोग इस बिन्दु पर गाँधी को अव्यवहारिक कहते हैं उनके सामने स्वीटजरलैंड का उदाहरण प्रस्तुत है जो पूर्णरूपेण सैनिक मुक्त राज्य है और उस पर कभी किसी ने आज तक आक्रमण नहीं किया है।

न्याय

राज्य के न्याय संबंधी कार्य कां गाँधी जी अधिकांशतः पंचायत के हाथों में सौंपने के पक्ष में थे। उनके अनुसार भारत जैसे गरीब देश में अंग्रेजी न्यायालय एक अभिशाप है, क्योंकि यह अत्यन्त खर्चीला है। वकील को वे अनैतिकता को बढ़ावा देने वाला मानते थे जिसे

P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-III, ISSUE-III, February-2015
E: ISSN No. 2349-9435
Periodic Research

इस कार्य में जज भी मदद करते हैं। वे वकील और जज को चचेरे भाई मानते थे। वकील जितना झगड़ा सुलझाता नहीं है, उससे अधिक बढ़ाता है।[41] वकील को वे साधारण मजदूरी देने में विश्वास करते थे। वकीलों का कार्य वास्तविक अर्थ में कुछ भी नहीं है, बल्कि ये ढ़ंग ही भड़काने में सहायक है।[42] वस्तुतः प्रचलित भारतीय न्यायालय दलाल की तरह तीसरा पक्ष है जो अनावश्यक रूप से अपनी निरर्थक सत्ता स्थापित करता है। इनके अनुसार न्यायलय से किसी की भी भलाई संभव नहीं है। न्यायालय का उद्देश्य सरकार की सत्ता की रक्षा करना है। क्योंकि यह उसका प्रतिनिधि है। न्यायाधीश का फैसला संतोषजनक है, यह कहना कठिन है, ''यह कौन कह सकता है कि तीसरे आदमी का फैसला हमेशा ठीक ही होता है। सच्ची बात क्या है यह तो दोनों पक्ष वाले ही जानते हैं। यह हमारा भोलापन और अज्ञान है, जिसकी वजह से हम यह मान लेते हैं कि हमारे पैसे लेकर यह तीसरा आदमी हमारा इन्साफ करता है।[43] आज के न्यायालय में वकील का कार्य है जज को भ्रम में डालना और मामलों को तोड़–मरोड़ कर पेश करना। वस्तुतः निर्धनों पर अन्याय के लिए न्यायलय सबसे सस्ता औजार है जिसे अमीर खरीदते हैं। यहाँ जनता की अपेक्षा सरकार की अधिक सुनी जाती है और लोगों को झूठ बोलना सिखलाया जाता है। दीवानी झगड़ों को वे पूर्णतः पंचायत के अधीन करने के पक्ष में थे और बार–बार न्यायालय में अपील के भी वे विरोधी थे।

संदर्भ

1. कुहन, ड्रेक, ''गाँधी, टॉल्सटाय एण्ड ननवॉयलेंस'', Congress Socialist, न्यू सिरीज (46) नवम्बर 7,1936, पृ0 7–8
2. मेनत, वी. लक्ष्मी, RuskinAnd Gandhi, (वाराणसी सर्वसेवा संघ प्रकाशन, 1956) पृ 0 25–26
3. गाँधी, एम. क., आत्मकथा (अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन,1959), पृ0 25
4. गाँधी, पूर्व निर्देशित पु0, पृ0 25
5. दास, भगवान, The Science of Social Organisation, (मद्रास, आंदर, 1910), पृ0 7–9 देखें।
6. राय अखिलेन्द्र प्रसाद, Ssocialist Thought in Modern India, (मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन, 1971), पृ0 41
7. गाँधी, एम. के., हिन्द स्वराज (अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन,1958) पृ0 36
8. हिन्द स्वराज, पृ0 93
9. वी. वी. मिश्रा कृत, Indian Middle Class, (लंदन, 1961), पृ0 371, 381, 382।
10. दास, भगवान, Ancient versus Modern Socialism, (मद्रास, अधार, 1910), पृ0 67 एवं 80।
11. वही, पृ0 27
12. हरिजन, 7.7.34, पृ0 1 और 4 विस्तृत अध्ययन के लिए ह0 का ही 6.4.34, पृ0 61 और 8.6.35, पृ0 135 देखें।
13. मॉडर्न रिव्यू, एल0 1/111 (3) अक्टूबर, 1935, पृ0 413
14. गाँधी, एम.के., सर्वोदय (अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन, 1958) पृ0 56
15. गाँधी, पूर्व निर्देशित पुस्तक, पृ0 4
16. गाँधी, एम. के., Constructive Programme (अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन, 1941), पृ0 18
17. हरिजन, 18.8.40, पृ0 253
18. ह0, 31.3.46, पृ0 64
19. ह0, 11.2.33, पृ0 233–34
20. उर्पयुक्त
21. चन्द्र शंकर, शुक्ल, Conversations of Gandhiji, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1933), पृ0 61
22. ह0, 28.9.34, पृ0 260–61
23. उर्पयुक्त
24. Young India, भाग–3, पृ0 426–27
25. ह0, 16.2.34, पृ0 6
26. ह0, 6.3.37, पृ0 25–26
27. Bapu's Letters to Meera- Gandhiji, (नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद), पृ0 4
28. Constructive Programme, पृ0 14
29. ह0, 13.1.40, पृ0 411
30. ह0, 26.7.42, पृ0 238
31. ह0, 4.11.39, पृ0 331
32. भाग–3, पृ0 120
33. पृ0 770
34. Speeches, गाधी, एम. के., नीतिधर्म (मद्रास, 1922) पृ0 40
35. गाँधी, एम. के., एवं देसाई, महादेव, नेशन्स वॉयस (अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन, 1947), पृ0 19–20
36. ह0, 5.5.46, पृ0 124
37. ह0, 9.3.40, पृ0 31
38. गाँधी, एम. के., 1934 में वकत्य, History of the Congress, (इलाहाबाद, 1935), ''गाँधी–इर्विन समझौता, लेखक पट्टाभी सीतारमैया, पृ0 753
39. हरिजन, 4.9.37, पृ0 233
40. तेन्दुलकर, डी. जी., Gandhiji – His lifeAnd Work, गोपीनाथ धावन पूर्व निर्देशित पृ0 335 तथा ह0, 4.9. 37, पृ0 233
41. ह0, 9.6.46, पृ0 169
42. ह0, 14.12.47, पृ0 471
43. हिन्द स्वराज, (अः), पृ0 88